अभाव, अपोह और अनेकान्त

'अभाव' 'अपोह' और 'अनेकान्त' की अवधारणाएँ एक तरह से आपस में ऐसी मिली-जुली प्रतीत होती हैं कि एक को दूसरे से अलग करना मुश्किल मालूम होता है। पर इतिहास में जो चीज़ें हमको अलग-अलग दिखाई देती हैं, या नहीं भी दिखाई देती हैं, उनमें फ़र्क इतना कम होता है कि वह नहीं दिखने जैसा ही होता है। फिर भी, ऐसे फ़र्क को लेकर लोग आपस में खूब लड़े हैं, खून की नदियाँ बहायी हैं, और कुछ इस तरह व्यवहार किया है जैसे वह 'फ़र्क' ही सब कुछ हो। दुनिया में 'मज़हबों' की कहानी ऐसी ही दिखाई देती है। ईसाईयों को लें या मुसलमानों को, दोनों की कहानी ऐसी ही लगती है। इनके सम्प्रदायों के आपस के झगड़े वैसे नहीं थे जैसे भारत में उत्पन्न हुए, अलग-अलग सम्प्रदायों या मज़हबों के, हालांकि यहाँ भी आपसी झगड़े कम नहीं थे। दर्शन की कहानी तो ऐसे 'बेकार' दिखाई देने वाले फ़र्कों के आधार पर ही खड़ी दिखाई देती है। जो लोग दार्शनिक नहीं होते उसमें उनको कोई मज़ा नहीं आता। उनकी यह समझ में नहीं आता कि आखिर क्या ये लोग ज़रा-ज़रा सी बातों को लेकर आपस में बहस करते रहते हैं या ज़ुबानी लड़ाई-झगड़ों में फँसे रहते हैं। 'अभाव', 'अपोह' और 'अनेकान्त' को लेकर कुछ-कुछ ऐसा ही लगता है। अभाव की बात करो तो अनेकान्त, जो इसके साथ लगा-बँधा है, उसकी बात करते ही जैनियों की याद आती है जो उस पर अपना विशेषाधिकार मानते हैं और अपोह का ध्यान आता है तो बौद्धों की याद आती है जो अपोहवाद के प्रतिपादक हैं। और इन तीनों की आपसी लड़ाई जो हज़ारों सालों तक चली है और आज भी चलती है उसके बारे में सबको पता है। उन्हीं की बातें हम पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं और इनके आपसी झगड़ों पर किताबें लिखते हैं और लड़के-लड़कियों से इम्तिहान में सवाल पूछते हैं। 'बेकार' समझी जाने वाली ऐसी बातों में ही पढ़ने-पढ़ाने का धन्धा चलता है। और ऐसा लगता है कि आदमी बेकार की बातों में ही इस तरह लगा रहता है जैसे कि ज़िन्दगी-मौत का सवाल हो। बाकी तो रोज़-मर्रा की बातें हैं, वे तो उस बेचारे को ज़बरदस्ती करनी ही पड़ती हैं। लेकिन उसको उनमें ज़्यादा मज़ा नहीं आता।

अब अगर आपको अपनी आदमियत महसूस करनी है तो आप इन बेकार और बेवकूफी की बातों पर थोड़ा सा गौर करें। पहले अभाव पर सोचें। आखिर यह है क्या और इसको मानने की ज़रूरत क्या है? इसको मानने से परेशानियाँ कितनी और क्या पैदा हुईं और फिर उन परेशानियों को खत्म करने के लिए आदमी ने क्या-क्या तरीके अपनाये? बात सीधी है। आप जहाँ भी बैठे हैं वहाँ बहुत कुछ है : दरी है, पलंग है, मेज़ है, कुर्सी है। मतलब यह है कि 'कुछ' है और जो भी कुछ आपको आँखों से, कानों से, नाक से पता चलता है, दिखाई देता है या आप सूँघ कर पता लगाते हैं, उस जगह आप इस 'कुछ' को रख सकते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी लगता है जब आपको वह दिखाई देता है जो वहाँ नहीं है। मिसाल के तौर पर, आपके घर में कोई चीज किसी जगह रहती है और एक दिन जब आप बाहर से आते हैं तो एकाएक लगता है यहाँ कुछ था जो नहीं है। कोई चीज जो जहाँ थी वहाँ नहीं है और थोड़ी देर बाद आपको एकदम पता लगता है, 'दिखाई' देता है कि, जो लेम्प, कुर्सी या कोई और चीज, जो जहाँ रखी रहती थी वह यहाँ आज नहीं है। कभी जब घड़ी की टिक-टिक बंद हो जाती है तो कुछ देर बाद लगने लगता है कि जो आवाज बराबर सुनाई दे रही थी वह आवाज़ अब नहीं है। फिर आप इस पर ध्यान देते हैं और ध्यान देने पर पता लगता है कि घड़ी बंद हो गई है।

हर आदमी की जिन्दगी में इस तरह की अनेक मामूली बातें होती हैं पर इनसे कोई सवाल या परेशानी नहीं उठती है। जो इन छोटी से छोटी बातों से परेशानियाँ पैदा कर लेते हैं या सवालों की झड़ी लगा देते हैं दार्शनिक उन्हीं को कहा जाता है। 'अभाव' के बारे में भी कुछ इसी तरह की कहानी है। वैसे 'अभाव' और भी अजीब तरह के हो सकते हैं, जैसे किसी आदमी का 'जाना', 'न होना' आपको खटकता है, परेशान करता है। जो नहीं हैं, उनकी याद बार-बार आती है, वह याद उन लोगों से भी ज्यादा महसूस होती है जो आपके आसपास हैं। शायरी में तो इस तरह की बात बहुत होती है और शायरी के बारे में सोचें नो उन बातों के बारे में पता चलेगा जिन बातों को बताना मुश्किल होता है। पर इसकी बात बाद में करेंगे। अभी तो सिर्फ उन वस्तुओं की बात हो रही है जो आँख, कान, नाक आदि से दिखाई देती हैं या दिख सकती हैं।

जो चीज़ थी वह नहीं है, जो सुनाई देता था वह अब सुनाई नहीं देता है, और इस तरह से उनका 'नहीं होना' जैसे प्रत्यक्ष मालूम होता है। हालांकि वह है नहीं फिर भी वह वैसी ही मालूम पड़ती है, दिखाई देती है, सुनाई देती है जैसी वह थी। लेकिन जो कभी था ही नहीं, कभी सुनाई ही नहीं दिया, उसके बारे में हम कहें कि वह नहीं है तो वह 'नहीं होना' एक दूसरे प्रकार का 'होना' है। पर वह 'होना' किस प्रकार का है? यही अभाव की समस्या है। एक कमरे में जहाँ हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मोर नहीं है, उनका 'नहीं होना' किस प्रकार का नहीं होना है? ज़रा

ध्यान से देखें तो जो चीज़ें नहीं हैं उन सबको न गिनाया जा सकता है न बताया जा सकता है। लेकिन इस बात से यह कौन कहेगा कि वे सब हैं और थोड़ा और सोचें तो लगेगा कि जो वहाँ नहीं है, जिसका वहाँ अभाव है, वह हमें प्रभावित करता है। हम उस चीज़ को लाने की कोशिश करते हैं जो नहीं है, और जब वह आ जाता है तब हमें खुशी होती है और हम अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। अब ज़रा सोचिये 'मरना' क्या है? मृत्यु से ज्यादा अभाव की अनुभूति क्या होती है? जो मर गया वह चला गया। पर उसके परिजनों के लिए तो वह तब उससे भी ज़्यादा होता है जितना कि वह जब जिंदा था तब था।

यही नहीं, आदमी अपने बारे में हमेशा यही महसूस करता है कि वह वह 'नहीं' है जो उसे होना चाहिए, और यह 'वह नहीं होने जो उसे होना चाहिए' का बोध उसे जितना परेशान करता है उतना शायद कोई चीज़ परेशान कभी नहीं करती होगी। दूसरों के बारे में तो यह बात साफ नज़र आती है। दूसरों के बारे में हम अक्सर शिकायत करते हैं कि देखो कैसा आदमी है? शायद ही कोई आपकी तारीफ करेगा, अक्सर लोग बुराई ही करते हैं। बुराई करने का मतलब क्या है? कि वह है, पर वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। इस तरह दोनों तरह से सारी दुनिया 'अभाव' से भरी मालूम होती है।

कर्म के प्रसंग में तो यह बात सहज ही दिखायी दे जाती है किन्तु ज्ञान के संदर्भ में हमें अभाव की विद्यमानता को स्वीकार करने में कठिनाई होती है।

लेकिन थोड़ा सोचने पर यह साफ ज़ाहिर होगा कि ज्ञान के संदर्भ में भी 'अभाव' की बात करना उतना ही ज़रूरी है जितना कि भाव और कर्म के संदर्भ में। ज्ञान की खोज का आरम्भ उस संशय से होता है जिसमें आदमी को यह शक होने लगता है कि वह जिस ज्ञान को सच माने बैठा था वह वास्तव में सच है कि नहीं। **न्यायसूत्र** में तो 'संशय' को प्रमाण-व्यापार का मूलभूत पूर्वांग माना गया है जिसके बगैर ज्ञान की प्रक्रिया का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। विरासत में मिले हुए ज्ञान की जब तक हम अपूर्णता और दोषों को महसूस न करने लगें तब तक नये ज्ञान की खोज की शुरुआत ही नहीं हो सकती। यही नहीं, ज्ञान के संदर्भ में तो यह बात अक्सर ही की जाती है कि अगर ऐसा हो तो क्या होगा? या, अगर ऐसा हुआ होता तो क्या होता? इतिहास में तो यह सवाल हमेशा ही उठाया जाता है। इतिहास का हर लिखने वाला यह सोचे बगैर नहीं रह सकता कि अगर औरंगजेब की जगह दारा जीतता, या गाँधी जी की हत्या नहीं हुई होती, या इंदिरा गाँधी को उस तरह नहीं मारा जाता...। पर इससे भी ज़्यादा ज़रूरी बात तो यह है कि आज के विज्ञान के संदर्भ में परीक्षण की प्रक्रिया एक प्रकार से अनिवार्य है और परीक्षण का एक अंग हमेशा यह होता है कि अगर ऐसा करें तो क्या होगा या क्या नहीं होगा। 'नहीं होना' ज्ञान की प्रक्रिया के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना होना। यही बात जिसे अन्वय व्यतिरेक कहा जाता है उसके ऊपर भी लागू होती है। इससे

भी अधिक, यदि आगे जाकर देखें तो विचार की प्रक्रिया में ही, 'नहीं' या 'निषेध' का अनिवार्य स्थान है। ये निषेध अनेक प्रकार के होते हैं और इसे माने बगैर ज्ञान का स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता। यही बात पूर्वपक्ष के खण्ड़न या मण्ड़न में लागू होती है। कहने का मतलब यह है कि अभाव का आभास ज्ञान की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भावना या कर्म के जगत् में। इस तरह अभाव पर विचार का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जिसकी ओर उन्हीं लोगों का ध्यान गया है जिन्होंने उस दर्शन का अध्ययन किया है और उस पर मनन और चिन्तन किया है।

अपोह की बात प्रथम दृष्टि में इससे कुछ भिन्न लगती है, क्योंकि अपोह की चर्चा में किसी भी वस्तु के बारे में सोचने के संदर्भ में उन चीजों का आना अनिवार्य माना जाता है जिनके अस्तित्व का उस वस्तु का होना निषेध करता है। यह बात शुरू-शुरू में तो अजीब लगती है कि आखिर जो चीज़ है, सो है उसको समझने के लिये उसकी जरूरत ही क्या है जो वह नहीं है? लेकिन अनेक संदर्भों में मनुष्य यह समझने की कोशिश करता दिखाई देता है। यही नहीं, जो नहीं है उसे उसका अभिन्न अंग मानता है जो है। इसके कुछ उदाहरण आसानी से दिये जा सकते हैं। हर चयन की प्रक्रिया में जो नहीं चुना गया, जो रास्ता नहीं लिया गया उसे उतना ही ज़रूरी समझा जिसको हमने चुना है। आधुनिक अर्थशास्त्र में एक अजीब उदाहरण मिलता है जिसकी साधारण मिसाल यह है कि अगर आपके पास कुछ पैसे हैं और बाजार में जाकर आप कुछ खरीदते हैं तो एक तरह से आपने उन सब चीज़ों को 'नकारा' है जो बाजार में उपलब्ध थीं किन्तु आप ने नहीं खरीदीं। यह सिद्धान्त बहुत कुछ अपोह जैसा ही है।

आम तौर पर 'अपोह' को इस तरह नहीं समझा जाता, लेकिन उस दृष्टि में जिसने इस सिद्धान्त को जन्म दिया है यह बात अनिवार्य रूप से अंतर्भूत है। आमतौर पर अपोह को इस तरह समझाया जाता है कि वह उन चीज़ों का निषेध करता है जिनका निषेध किसी विशेष वस्तु के होने में अंतर्भूत है। पर, यह अंतर्भूत होना क्या है? मान लीजिये यहाँ इस कमरे में इस समय घड़ा है, तो यह बात किसका निषेध करती है? कुछ लोग कहते हैं कि यह उन सभी का निषेध करती है जो वहाँ उसके बजाय हो सकता था। लेकिन इस कहने का मतलब क्या है? अगर इस घड़े के बजाय कोई आदमी हो सकता था तो क्या यह उसका 'निषेध' होगा?

इस बात पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना ज़रूरी है क्योंकि परम्परा में इसकी चर्चा हुई है। 'घड़ा' एक वस्तु है जो देश-काल में होती है, जिसमें द्रव्य, गुण आदि की चर्चा की जा सकती है। पर कोई कहे कि वहाँ आकाश नहीं है तो इसका क्या अर्थ होगा? इसी प्रकार कोई कहे, यहाँ ब्रह्म नहीं है या जिसको हम गणितीय तथ्य कहते हैं वह नहीं है या, जिसको हम संख्या कहते हैं वह वहाँ केवल

अपने एक रूप में ही विद्यमान है अन्य रूपों में नहीं, तो इसका क्या अर्थ होगा? यह बात कुछ-कुछ उस तरह की है जैसी कि जब हम किसी वस्तु या घटना के बारे में बात करते हैं तो उसके बारे में किस प्रकार के गुणों की चर्चा कर सकते हैं? सब गुण सब चीज़ों में नहीं माने जा सकते। जैसे यदि कोई कहे कि 'संगीत नीला है' तो इसका कोई अर्थ नहीं है। 'नीला' पद का 'संगीत' पद के साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता, न 'काला' का और न ही 'सफेद' का किया जा सकता है। अब, अगर हम 'संगीत' के संदर्भ में अपोह की बात करें तो इसमें पद-प्रयोग-विषयक उपर्युक्त परिस्थिति का क्या स्थान होगा?

इन उदाहरणों से जो बात पता लगती है वह यह है कि शुद्ध निषेध की बात करना बिल्कुल बेकार है। अभाव व अपोह विषयक चर्चाओं में ऐसा किया गया है। अभाव के संदर्भ में कम, अपोह के संदर्भ में अधिक। अब अभाव की बात देखें। 'यहाँ कोई चीज़ नहीं है' इसमें 'नहीं होने' का क्या मतलब है? इस पर हम पहले भी थोड़ी चर्चा कर चुके हैं, लेकिन अब इसे अनेकान्त के संदर्भ में देखें जो जैनियों का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है।

अनेकान्त की चर्चा अभाव और अपोह के संदर्भ में नहीं की जाती। भारतीय दार्शनिक, वे चाहे बौद्ध हों या नैयायिक या कोई और, 'अनेकान्त' का प्रयोग तो वे केवल ऐसे ही करते हैं जैसे वह कोई ऐसी मूलभूत गलती है जिसकी ओर इशारा करते ही उसकी बात समाप्त हो जानी चाहिए। 'अनेकान्तिक' होना उनके लिए एक ऐसी अक्षम्य भूल है जो कोई विचारक कर ही नहीं सकता। किन्तु जैन लोग इसे अपने सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, इसलिए जैन चिन्तकों को अन्य दर्शन-सम्प्रदाय 'दर्शन' ही नहीं मानते। अगर ध्यान से देखें तो अनेकान्त की बात कुछ-कुछ वैसी ही लगती है जैसी अभाव और अपोह की। अनेकान्त के सिद्धान्त में कहने की कोशिश है कि कोई भी वस्तु या वस्तुस्थिति एकांगी नहीं होती। उसके अनेक आयाम होते हैं और कालक्रम में उसमें अनेक परिवर्तन घटित होते हैं। इन सबको अगर हम एक साथ रख कर देखें तो उनमें परस्पर विरोध दिखायी देगा। जो आज है, या अब है वह कल नहीं होगा। कुछ संदर्भों में तो कुछ देर बाद भी ऐसा होता देखा जा सकता है। अब अगर हम उस चीज़ को या उस वस्तुस्थिति को वैसा ही मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस वस्तु में परस्पर विरोधी दिखने वाले गुण विद्यमान हैं और इस तरह से जो अब उसमें नहीं है उसको भी इस दृष्टि से विद्यमान मानना पड़ेगा। किसी भी वस्तु में कई बार वे गुण उत्पन्न होते हैं जो उसके सम्बन्ध विशेष में आने पर प्रकट होते हैं। इससे उस वस्तु में क्या-क्या गुण हैं, इसका हमें ठीक-ठीक पता ही नहीं लग सकता। वस्तु के उन गुणों का पता अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध से ही चलता है, किन्तु वस्तुओं के साथ संभावना रूप से उस वस्तु के अनेक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं की संबंध-जनित यह अनंतता का यह कथन ही अनेकांतवाद है। इसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि

हरेक चीज़ में अनन्त गुणों की संभावना निहित रहती है जो एक समय तो दिखाई नहीं पड़ती किन्तु जिसे हमें मानना पड़ता है, क्योंकि उसमें वह सब धीरे-धीरे बाद में दिखाई पड़ती है। यह वस्तुओं के अन्दर छिपी अनन्तता है। वह हमें दृष्टिगोचर तो नहीं होती लेकिन दार्शनिक चिन्तन से हमें सहज रूप में उपलब्ध हो सकती है। इसलिए जैन दार्शनिकों का कहना है कि अन्य दर्शन-संप्रदायों के सिद्धान्त एकांगी हैं क्योंकि वे वस्तु के समग्र रूप को नहीं देखते हैं, केवल उस रूप को ही देखते हैं जो समय विशेष में दृष्टिगत है। किन्तु बुद्धि हमें बताती है कि वास्तव में उसमें अदृष्ट, अगोचर, अनन्त संभावनायें निहित हैं जो कभी न कभी हमें दिखेंगी।

इस तरह से देखने पर वस्तुओं में एक छिपी अनन्तता का ज्ञान हमें प्राप्त होता है और कुछ ऐसी भी प्रतीति होती है कि कोई वस्तु न पूर्ण रूप से जानी जा सकती है और न ही वर्णित की जा सकती है। और अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो ऐसा दिखेगा कि हम ऐसी अन्तर्विरोधी बात कह रहे हैं जो कभी भी सत्य नहीं हो सकती। इसी बात को उन्होंने 'अवक्तव्य' कहकर बताने की कोशिश की है। किसी भी चीज़ का असली सत्त्व या तत्त्व अपने आप में इस अर्थ में अवक्तव्य है कि भाषा में उसे पूर्ण रूप से पकड़ा ही नहीं जा सकता। यही नहीं, अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो जो हम करेंगे वह अन्तर्विरोधपूर्ण होगा।

अभाव, अपोह और अनेकान्त ये अलग-अलग दिखाई देने वाले सिद्धान्त हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि किसी वस्तु या वस्तुस्थिति को सत्य कहने का अर्थ क्या है। यही नहीं, ये हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि जो सत्य है या जो वास्तव में है उसका काल से क्या सम्बन्ध है। चीज़ों का काल में होने का अर्थ ही यह है कि उनमें परिवर्तन होता है, और परिवर्तन होने का मतलब यह है कि उसमें जो कुछ था वह बदल जाता है और कुछ नई चीज़ या गुण पैदा होते हैं। यही नहीं, यह निरन्तर परिवर्तन वस्तु में अपने आप होता है या दूसरी चीजों के सम्बन्ध में आने पर होता है, इसकी चर्चा इस सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से नहीं पायी जाती। इस बात की चर्चा भी स्पष्ट की जानी चाहिए कि दो वस्तुओं का होना या एक दूसरे से अलग होना, क्या मायने रखता है। अनेकान्त के सिद्धान्त में तो इस सवाल का जवाब बहुत ही मुश्किल होगा कि दो कही जाने वाली, या दो अलग-अलग दिखाई देने वाली वस्तुओं में किस प्रकार भेद किया जा सकता है? यही बात कुछ-कुछ अपोह के बारे में भी है। जिन चीज़ों में अपोह की बात की जा रही है उनकी स्वयं की सत्ता क्या है या उनका अपना सत्य क्या है? जो लोग 'अभाव' की बात करते हैं उनके लिए भी यह सवाल उतने ही महत्त्व का है कि अभाव 'किसका' है और जब किसी का अभाव समाप्त हो जाता है तब क्या होता है? संभावना, कल्पना या मानसिक और बौद्धिक रूप से सत्य होने और असली तरह के सत्य होने में भेद क्या सार्थक है? क्योंकि भेद करे बिना तो इन सबकी चर्चा ही नहीं की जा सकती।

एक अन्य प्रश्न जो विचारकों को दूसरी दिशा में ले जाता है वह यह है कि क्या ये सब समस्याएँ भाषा के प्रयोग से उठती हैं? भाषा अनेक भेद करती है। वह 'नहीं' के प्रत्यक्ष को जन्म देती है जिसको सत्य माने बगैर वह कुछ कह ही नहीं सकती। यही बात भाषागत विचार में भी दिखायी देती है। विचार भाषा के बगैर नहीं होता। लेकिन जहाँ भाषा है या विचार है वहाँ अभाव आदि को मानना पड़ेगा। और अगर अभाव और संभावना वस्तुगत नहीं है तो फिर इन्हें विचार की ही उपज मानना पड़ेगा। इस प्रकार कहने पर ऐसा लगता है कि चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें नकारने की शक्ति विद्यमान है। 'ऐसा हो सकता है' और 'ऐसा नहीं है' ऐसा कहते ही वह उसको सत्ता प्रदान करती है जो नहीं है। इस बात को भी दो तरीके से देखा जा सकता है। एक यह कि जब चेतना स्वयं में स्थित है तो उसके नहीं होने का प्रश्न नहीं किया जा सकता है। पर जैसे ही चेतना आत्म-चेतन होकर प्रश्न पूछती है या किसी क्रिया में संलग्न होती है या विमर्श करती है, तभी 'जो नहीं है' उसे अपनी परछाई के रूप में जन्म देती है। वही भाषा में अभाव के रूप में और चिन्तन में नकारने के रूप में व्यक्त होता है। यह 'वह' है जिसकी सत्ता को न नकारा जा सकता है और न स्वीकार ही किया जा सकता है। यही चेतना की विड़म्बना है और इसी से बचने के लिए दार्शनिक चिन्तन या विमर्श चेतना के उस शुद्ध रूप की खोज करता है जिसमें न कोई प्रश्न उठता है न समस्या। ऐसी स्थिति में न अभाव होता है न अनेकान्त और न ही अपोह। जहाँ तक नैयायिकों व बौद्धों का प्रश्न है, वे तो शायद इस बारे में एकमत हैं कि उस अवस्था में चेतना ही नहीं रहती। नैयायिकों के मोक्ष में तो चेतना ही नहीं होती अत: वहाँ प्रश्न उठने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। यही बात निर्वाण के बारे में भी है। वहाँ तो 'कुछ' भी नहीं है तो फिर अपोह या अभाव की बात बेकार ही नहीं, असंभव भी है। यही नहीं, बौद्धों के 'चित्त' को 'क्षण-भंग' मानने पर अपोह की चर्चा ही नहीं हो सकती। जहाँ तक जैन दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या केवली का ज्ञान अनेकान्तिक है? स्वयं महावीर से जब यह प्रश्न किया गया था कि सिद्धि सान्त है या अनन्त, तो उनका उत्तर कुछ इसी प्रकार का था। उन्होंने वहाँ पर कहा था कि द्रव्य की दृष्टि से सिद्धि या मोक्ष की अवस्था 'सान्त' है और इसी प्रकार देश की दृष्टि से भी सान्त है, किन्तु काल और पर्याय की दृष्टि से अनन्त है। इस उत्तर में दृष्टि-भेद निहित है और अगर महावीर की बात को सच मानें तो सिद्धि की अवस्था में 'भेद' रहता है और रहेगा। पर क्या वास्तव में उसे रहना चाहिए? महावीर प्रश्न का उत्तर दे रहे थे, पर उस अवस्था में नहीं जब वे परम केवली की अवस्था में पहुँच गये थे। क्योंकि वह तो देह-त्याग के बाद ही संभव हो सकती है। लेकिन क्या उस अवस्था में पहुँचने पर केवली की आत्म-चेतना इस प्रकार के भेद कर सकती है, या उसमें इस प्रकार की दृष्टियाँ 'उत्पन्न' हो सकती हैं? उसके ज्ञान को तो 'सर्वज्ञ' का ज्ञान कहा जाता है और सर्वज्ञता में न ज्ञान अनेकान्तिक हो सकता है और न ही उसका

रूप 'सप्तभंगी'। ये तो ज्ञान की अपूर्णता के परिचायक हैं और जिसे अभी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है वही अनिवार्य रूप से अपनी सीमित दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में सत् और ज्ञान को इस रूप में देख सकता है। सीमित और सान्त चेतना का ज्ञान शब्द में, भाषा में बँधा होता है, और भाषा की सीमा ही उसके ज्ञान को एक प्रकार से अनेकान्तिक रूप में प्रस्तुत करने को बाध्य करती है। यही बात अपोह और अभाव के बारे में सत्य दिखाई देती है। निर्वाण की अवस्था में अपोह की बात करना बेकार लगता है और मोक्ष की अवस्था में 'अभाव' की। अपोह या अभाव या अनेकान्त तीनों उस आत्मचेतन प्राणी के ज्ञान में प्रतीत होते हैं जो सान्त है और अपूर्ण है और जिसका ज्ञान अनिवार्य रूप से आबद्ध है। इनमें आपस के भेद उस दृष्टि-भेद से उत्पन्न होते हैं जो इस अपूर्णता और सीमा को समझने की चेष्टा करती है। यह दृष्टि-भेद आत्मचेतना के उन तीन पक्षों की ओर ध्यान दिलाता है जो आत्मचेतना के ज्ञान में अनिवार्य रूप से संलग्न हैं। और यह तीनों एक दूसरे को समझने में सहायता ही नहीं करते बल्कि आत्मचेतन प्राणी की अपनी अवस्था को समझने में भी मदद करते हैं। अभाव या अपोह या अनेकान्त न केवल हमारे ज्ञान की अपूर्णता के द्योतक ही नहीं हैं बल्कि उसको एक ऐसा आयाम भी देते हैं जिसके द्वारा हमारा अपूर्ण और सीमित ज्ञान पूर्णता की ओर निरन्तर अग्रसर होने की प्रक्रिया में संलग्न होता है। यह बात ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देती परन्तु जब हम कर्ममीमांसा, मूल्यमीमांसा और भाषामीमांसा की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभाव, अपोह, और अनेकान्तिकता अपने नये रूपों में प्रकट होते दिखाई देते हैं। वहाँ 'भेद' दोष रूप में उपस्थित नहीं होता और न ही अनेकान्तिकता उस प्रकार दिखाई देती है जैसी वह ज्ञान के संदर्भ में अक्सर दीख पड़ती है। यहाँ तो वह ऐसी अनेक नई संभावनाओं को उत्पन्न करती प्रतीत होती है जो हमारे जीवन को अधिक सार्थक और चेतना को अधिक मूल्यवान बनाते हैं। अभाव से हम जीवन में 'भाव' की ओर अग्रसर होते हैं और अपोह से 'अपने' को पाते हैं और अनेकान्त के द्वारा अनेक दिशाओं में सतत् अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार से देखने पर ये सिद्धान्त हमें एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं और हमें इनमें एक ऐसी नई सार्थकता दिखाई देती है जो स्वयं हमारे जीवन को भी सार्थक बनाती है।

❑